

अस्तित्ववाद: पाश्चात्य तथा प्राच्य चिंतन

डॉ. स्नेहलता दास

अध्यापिका, हिंदी विभाग, रामादेवी महिला विश्वविद्यालय, भुवनेश्वर, ओड़िशा, भारत

सारांश

अस्तित्ववाद वैयक्तिकता के दर्शन पर आधारित है तथा व्यक्ति के अस्तित्व की स्थापना करता है। पाश्चात्य और भारतीय दोनों चिंतन क्षेत्र में इस दर्शन पर विचार हुआ है तथा साहित्यिक कृतियों में भी इसका प्रयोग हुआ है। पाश्चात्य अस्तित्ववाद के अनुसार अस्तित्व का महत्व तत्व यह सार से अधिक होता है। मनुष्य अपने जीवन में कई प्रकार के चुनाव करता है और इसी से वह अपना कर्म निर्धारित करता है। उसके कर्मसमूह से ही उसकी जागतिक स्थिति सिद्ध होती है। यही अस्तित्व का अर्थ है। मानव जीवन की सबसे बड़ी चुनौती है मृत्यु। यह मानव की स्वतंत्रता पर रोक लगाती है। इसके अलावा अन्य सांसारिक की परिस्थितियाँ जैसे दुख संघर्ष आदि तथा उसकी प्रवृत्तियाँ, गुण, बुद्धि भी उसके नियंत्रण के बाहर हैं एवं उसकी स्थिति की अनिवार्य सीमाएँ हैं। अस्तित्ववादी मानवीय स्थिति की अनिवार्य सीमाओं के रूप में मृत्यु, संघर्ष, दुख, सुख और प्रमाद आदि को स्वीकार करता है। मनुष्य मृत्यु से भागने की कोशिश करता है इसलिए मृत्यु दुर्घटना जैसी लगती है। मृत्यु से सारी सम्भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं। सार्त्र ने फिर भी मृत्यु को संपूर्ण विनाश न मानकर उसे एक तथ्य के रूप में स्वीकार किया है। भारतीय चिंतन मृत्यु को जीवन का अविभाज्य अंग मानता है और उसे सार्थक बनाने के पक्ष में है। भारतीय चिंतन मनुष्य को शून्य में चीर भटकाव की व्यथा की अनुभूति नहीं कराती बल्कि चिर शांति की संभावना को जगाती है मोक्ष तक ले जाती है। अस्तित्ववादी के लिए यह संसार संघर्षमय है क्योंकि व्यक्ति अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए दूसरे को बाधक बनते देखता है और इसी से संघर्ष होता है और युद्ध भी होता है। यूरोप के महायुद्ध में सार्त्र की अनुभूति तथा महाभारत युद्ध में अर्जुन की अनुभूति एक जैसी है अर्थात् अस्तित्व वादी चिंतन जीवन की सार हीनता को प्रमाणित करता है। अस्तित्ववादी चिंतन मानव जीवन की शुद्धता को महान बनाने का प्रयास करता है उसके अनुसार मनुष्य को अपने जीवन की व्यवस्था का अनुभव करके अत्यंत कम समय में अपने व्यक्तिगत जीवन को अर्थ देना चाहिए। अस्तित्व दी अपने विवेक अपने निर्णय शक्ति और सुअवसर के बल पर समान परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न व्यक्ति अलग-अलग रास्ते चुनते हैं। अस्तित्ववादी इसी चुनाव को उसका सार तत्व कहता है। वातावरण की परिस्थितियों पर व्यक्ति का कोई नियंत्रण नहीं होता इसीलिए अस्तित्व वादी उसे नगण्य समझता है तथा अपने चुनाव को मुख्य मानता है। यही चुनाव ही उसके अस्तित्व का निर्माण करता है।

मूलशब्द: अस्तित्व और सारतत्व, मनुष्य का स्वरूप, सत् का स्वरूप, शून्यता की अवधारणा, संत्रास, वैयक्तिकता, पाश्चात्य चिंतन, भारतीय चिंतन

प्रस्तावना

अस्तित्ववाद का मूलभूत कार्य व्यक्ति-अस्तित्व की स्थापना है। वैयक्तिकता इस दर्शन का मूलाधार है। ब्रह्मांड को जानने की तुलना में 'मैं कौन हूँ' जानना ज्यादा महत्वपूर्ण है। अस्तित्ववाद 'स्व' या 'अहं' के

अस्तित्व की अनुभूति का दर्शन है। पाश्चात्य और भारतीय दोनों चिंतन-क्षेत्रों में इस पर दार्शनिक दृष्टि से विचार हुआ है और साहित्यिक-कृतियों में उसका प्रयोग भी। इस छोटे-से आलेख में अस्तित्ववाद की मूल स्थापनाओं पर तुलनात्मक विचार किया जा रहा

है।

पाश्चात्य अस्तित्ववाद का सूत्रवाक्य है- अस्तित्व सारतत्व से पहले है- Existence Precedes Essence. अर्थात् अस्तित्व का महत्व तत्व या सत्ता या सार से अधिक महत्व रखता है। क्योंकि व्यष्टि सृष्टि का अद्वितीय पदार्थ रहता है। वह स्वतंत्र है, अर्थात् अपनी स्वतंत्र इच्छाशक्ति के द्वारा यह संभव होता है। व्यक्ति पूर्वनिर्मित नहीं होता। वह निरंतर बनता रहता है और आंतरिक रूप से स्वतंत्र होता है। वह स्वयं चुनाव कर सकता है, निर्णय ले सकता है। ईश्वर आदि कोई अन्य शक्ति उसके लिए चयन या निर्णय नहीं करती। अतएव मानव ही अस्तित्व से युक्त है। वह चेतन है। जो अपने अस्तित्व के संबंध में जागरूक नहीं है, वह अस्तित्ववान् नहीं है। साकार अचेतन प्रकृति 'सारभूत' है। अस्तित्व पहले है, सारभूत या तत्व गौण है और बाद में है, क्योंकि अस्तित्व के बिना तत्व का अनुभव नहीं होता।

अतएव सत्ता या तत्व मनुष्य की मौलिक प्रवृत्ति है, तो अस्तित्व का अर्थ वे कर्मसमूह है जिससे मानव की जागतिक स्थिति सिद्ध होती है। सार तत्व वस्तु या व्यक्ति के वे गुण विशेष हैं जो उसका निर्माण करते हैं। मैं मानव हूँ, यह मेरा अस्तित्व है तो मानवता मेरा सार तत्व है। सारतत्व दो प्रकार के हैं- प्रथम, समष्टिगत सार तत्व, जो एक जाति के सभी पदार्थों में पाए जाते हैं। उदाहरण है चिंतन शक्ति, विवेक आदि। दूसरा, व्यष्टिगत सार तत्व जो किसी एक विशिष्ट पदार्थ में पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, कायरता, ईमानदारी। सारतत्व और व्यक्ति में कुछ-न-कुछ भेद तो रहता ही है। क्योंकि- Man may be good but he is not goodness, however beautiful he may be, he is not beauty itself.

व्यक्तित्व तत्वतः स्वतंत्र है। सांसारिक परिस्थितियाँ उसकी स्वतंत्रता को सीमित करती हैं। उसकी प्रवृत्तियाँ, गुण, बुद्धि आदि भी उसके नियंत्रण के बाहर हैं, वह उन्हें जन्म से प्राप्त करता है। हेडेगर इस नियामक तत्व को भाग्य कहते हैं। उसके अस्तित्व का आधारभूत तत्व है- व्यथा, वेदना। 'भय' इसी व्यथा का एक रूप है। मृत्यु तो सबसे बड़ा भय है। खासकर अस्तित्ववादी के लिए।

मानव जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप, सबसे बड़ी

चुनौती है- मृत्यु। जन्म के साथ मृत्यु अनिवार्य रूप से संबंध है। यह मानव की स्वच्छंदता में रोक लगाता है। इसी प्रकार दुःख, संघर्ष, प्रमाद आदि भी मानवीय स्थिति की अनिवार्य सीमाएँ हैं। कोई स्वेच्छा से अस्तित्व धारण नहीं करना चाहता। यह तो मजबूरी है। मृत्यु को अस्तित्व का अंत मान लिया जाए तो वह आकस्मिक या दुर्घटना जैसी नहीं लगती। अन्यथा मृत्यु-चेतना सर्वदा बनी रहती है, तो जीवन निरर्थक, निरुद्देश्य, अनावश्यक, दुःखद लगता है। हेडेगर मृत्यु-दर्शन के हिमायती है। जबकि सार्त्र मृत्यु को समग्र विनाश नहीं मानता। मरने के बाद व्यक्ति कुछ ऐसे मूल्य और सूत्र छोड़ जाता है कि दूसरे उन पर अमल करते हैं या उन्हें बदल देते हैं। अतः मृत्यु जन्म के समान एक तथ्य मात्र है। मृत्यु की बंदिश व्यक्ति की स्वतंत्रता की बेड़ी नहीं बन सकती। 'श्रीमद् भागवद् गीता' का यह श्लोक मृत्यु को अत्यंत स्वाभाविक रूप से स्वीकार करती है-

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरि हार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ (2/17)

जन्म और मरण को जोड़कर देखने से जीवन का सातत्य अनुभूत होता है। ऐसे में जन्मांतरवाद का 'सुख' ही संभव लगता है, शून्य में चिर भटकाव की 'व्यथा' की अनुभूति नहीं होती। जीवन का आदि-अंत अदृश्य है, वर्तमान जो मध्य है वही दिखता है। इसीलिए-

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तानिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ (2/28)

तब तो जन्मांतर वेश-परिवर्तन जैसा स्वाभाविक लगता है। इसीलिए सार्त्र निरुद्देश्यता को जीवन की सार्थकता समझता है। सामाजिक संबंधों से व्यक्ति को अलग करके विश्लेषित करना चाहता है। 'गीता' भी धर्मस्थापना और 'स्वधर्मपालन' के मार्ग में सामाजिक संबंधों की उपेक्षा करती है, लेकिन वहाँ निश्चित उद्देश्य विद्यमान रहता है।

अस्तित्ववादी मानवीय स्थिति की अनिवार्य सीमाओं के रूप में मृत्यु, संघर्ष, सुख-दुःख और प्रमाद आदि को

स्वीकार करता है। जब तक मनुष्य मृत्यु को भूल जाता है या उससे भागने की कोशिश करता है तब तक वह जीवन के लिए एक संयोगात्मक तथ्य बनी रहती है। इस मृत्यु से वैयक्तिक संभावनाएँ समाप्त न होने पर भी मंद पड़ जाती हैं। इसीलिए मृत्यु दुर्घटना जैसी लगती है, वह निरर्थकता ला देती है, उसको संदेश और कौतूहल से भर देती है। वह सारी संभावनाओं का अंत कर देती है। निराशा, निरर्थकता से जीवन को भर देती है। वह कब आ जाय, पता नहीं। सार्त्र फिर भी मृत्यु को संपूर्ण विनाश न मानकर उससे छूटे कुछ मूल्य और सूत्र को भविष्य के लिए बचा हुआ स्वीकार करता है। वह मृत्यु को एक तथ्य स्वीकार करता है उसको स्वतंत्रता के लिए बेड़ी नहीं समझता।

भारतीय चिंतन मृत्यु को जीवन का अविभाज्य अंग मानता है और उसे सार्थक बनाने के पक्ष में है। श्रीमद् भगवद् गीता जो संपूर्ण उपनिषदों का सार है स्पष्ट घोषणा करती है कि असत् का भाव नहीं, सत् का अभाव नहीं- नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। असत् का अस्तित्व नहीं होता। अनास्तित्व असत् नहीं होता। जन्म और मरण को जोड़कर देखने से जीवन एक सातत्य बन जाता है जो जन्मांतर तक फैल जाता है। इसीसे मनुष्य को अपेक्षाकृत अधिक उदात्त जीवन की प्रेरणा मिलती है, जो 'ब्राह्मी स्थिति' तक जाती है। वह शून्य में चिर भटकाव की 'व्यथा' की अनुभूति नहीं रहती, चिर शांति की संभावना को जगाती है, मोक्ष तक ले जाती है। सांसारिक जंजाल से मुक्ति मिलती है। मृत्यु तथ्य है, सत्य है, उसे स्वीकार कर लेने पर वह तुच्छ प्रतीत होती है, वह भय का कारण नहीं बनती। सार्त्र आत्मतत्त्व को स्वीकार नहीं करता वह चेतना को मानता है। शरीर को महत्व देने पर चेतना की आवश्यकता तो होती है। जीवन के प्रति सचेत रहना अस्तित्ववादी का मुख्य लक्षण है। 'गीता' स्थूल नश्वर शरीर और आत्म तत्त्व का संयोग-वियोग स्वीकार करती है, इसलिए ऐसे कर्म पर जोर देती है, जो सृष्टि के समर्थन में होता है, सिर्फ व्यक्ति स्वार्थ के लिए नहीं होता। पाश्चात्य अस्तित्ववादी उसे व्यक्ति के स्तर तक सीमित करता है तो अराजकता की स्थिति की संभावना बढ़ जाती है। वह व्यक्ति स्वातंत्र और चरण (Choice) पर बल देता है।

अस्तित्ववादी के लिए यह संसार संघर्षमय है। क्योंकि एक व्यक्ति अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए, उद्देश्य की सिद्धि के लिए दूसरे को बाधक बनते देखता है। तब उस पर वह शासन भी करना चाहता है। इसीसे संघर्ष होता है। युद्ध होता है। अस्तित्ववादी चिंतन के पीछे युद्ध की विभीषिका है। यूरोप के महायुद्ध में सार्त्र की अनुभूति और महाभारत युद्ध के पहले और अंत में अर्जुन आदि की अनुभूति लगभग एक-सी है। अर्थात् जीवन की सारहीनता को प्रमाणित करना। अर्जुन भी युद्धारंभ में भयानक परिणाम की आशंका से बचना चाहता है, निरर्थकता को अनुभव करता है। जिनके लिए राज्य सुख चाहिए वे ही मरने पर उद्यत हैं तो ऐसे युद्ध से क्या लाभ? सच में युद्ध से कहीं भी कभी-भी किसीको भी लाभ नहीं होता। अस्तित्वों के संघर्ष से, अहं के टकराव से युद्ध होते हैं। लेकिन महाभारत जैसे युद्ध के अलग कारण भी हैं। स्वेच्छाचारी, अत्याचारी, अन्यायी शासक का विरोध आवश्यक है। दुर्योधन पांडवों को जीने का न्यूनतम साधन भी नहीं देना चाहता। सूच्यग्र मेदिनी के लिए युद्ध का आह्वान करता है। यह अहंकार की चरमसीमा है। भारतीय परंपरा स्वार्थ-साधन को पाप, -परहित साधन को पुण्य मानता है। 'गीता' में उस अस्तित्व को सर्वोत्कृष्ट कहा गया, जो लोक को दुःख नहीं देता या लोक द्वारा स्वयं उद्वेजित नहीं होता (12/15)। लेकिन अहंकार से विमूढ़ व्यक्ति अपने को कर्ता मानता है, यद्यपि 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः' (3/27) कर्मसिद्धि के लिए पाँच कारण हैं- अधिष्ठान, कर्ता, करणं, चेष्टा तथा दैव (18/14)। इसीलिए व्यक्ति के लिए कर्म पर ही अधिकार मिला है, फल तो कारणों पर निर्भर है। इसीलिए उसे अनासक्त भाव से कर्म करते रहना चाहिए। फल की आशा और कर्तृत्व का अहंकार नहीं रखना चाहिए। 'गीता' में 'नैष्कर्म्य सिद्धि' को अस्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण बताया गया है और जीवन-संग्राम में सर्वदा ईश्वर-स्मरण करते हुए युद्ध करते रहने का उपदेश दिया गया है। ईश्वर-स्मरण इसलिए कि कर्म स्वार्थान्वेषी न हो। जो निरीश्वर है, उसे लोक-कल्याण या धर्म-स्थापन का ध्यान रखना चाहिए। गीता का सीधा संदेश है- 'मां अनुस्मर युध्य च'।

पाश्चात्य अस्तित्ववादी भी मानव-जीवन की विवशता

का अनुभव करके अत्यंत कम समय में अपने वैयक्तिक जीवन को एक अर्थ देने का प्रयास करता है। मानव की क्षुद्रता को महान बनाने का प्रयास करता है। क्षण के महत्व को पहचानता है, उसका भरपूर उपयोग के पक्ष में परंपरागत मूल्यों को वह निष्प्राण समझता है, अपने दृष्टिकोण को सर्वाधिक महत्व देता है, भले ही उससे अराजकता या असामाजिकता फैलने का डर रहता है। परंतु वह अपने व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा से पीछे नहीं हटता। निराश और वेदना से उद्भूत इस सशक्त जीवन-दर्शन को कुछ विद्वान् बौद्धधर्म की 'करुणा' के रूप में देखते हैं। (हिंदी साहित्य कोश पृष्ठ-85)। सहानुभूति और संवेदना के कारण यह अस्तित्ववाद पूरे संसार तक प्रसारित होता है। इसी प्रकार वेदांत का अहं या स्व समग्र में विलीन हो जाता है। उसकी प्रक्रिया भी आत्मसचेतना से शुरू होती है- 'कोऽहम्' और आत्मसाक्षात्कार के बाद वह 'अहं ब्रह्मास्मि' की उपलब्धि कर लेता है। उसकी आत्मोन्नति ज्ञान के माध्यम से परम तत्त्व ब्रह्म को पहचान कर उसमें विलीन हो जाना है। योग के माध्यम से जीवात्मा और परमात्मा का परम मिलन होता है। भक्ति के जरिये भक्त और भगवान एकाकार हो जाते हैं। वहाँ शरीर नश्वर है, जगत् मिथ्या है। लेकिन सब ईश्वर के अंश होने के कारण अस्तित्व में होते हैं। अवतारवाद ने तो संसार और सांसारिक जीवन को 'लीला' कहकर एक अलग सार्थकता प्रदान किया, जिससे भक्त मोक्ष का लोभ छोड़ इस संसार में ही 'लीला' में शामिल होने की अंतिम इच्छा रखता है। इस प्रकार इसमें अस्तित्व को एक नया आयाम प्राप्त हो जाता है।

पाश्चात्य अस्तित्ववाद मानता है कि होने और अस्तित्ववान् होने में अंतर है। सच तो यह है कि स्थिति (State) अस्तित्व नहीं है, बल्कि कार्य (Action) अस्तित्व है। अर्थात् संभावना से वास्तविकता में रूपांतरित हो जाना ही अस्तित्व में आना है। अस्तित्व में आने का अर्थ है वह बनना जो मनुष्य बनना चाहता है।

इसलिए बनने या ढलने के लिए मनुष्य को स्वतंत्रता चाहिए। ऐसी स्वतंत्रता जो पशु को नहीं मिल सकती। सार्त्र आदि की राय है कि जो अपने को बनाने में स्वतंत्र है, जो अपना निर्माता स्वयं है, जो स्वाबलंबी

है, इस प्रकार स्वयं समर्थ है। इसीलिए सभी मनुष्य इस स्वतंत्रता के विशेषाधिकार का उपयोग नहीं कर सकते। सब लोग 'भेड़िया धसान' में फँसकर अपनी स्वतंत्रता और अपनी रुचि भी खो बैठते हैं।

अस्तित्ववादी बनने के लिए हमें यह निर्णय करना पड़ेगा कि हम क्या बनना चाहते हैं। ऐसा निर्णय एक बार नहीं निरंतर लेना पड़ता है ताकि मनुष्य अस्तित्व की एकरूपता से बचकर नित्य नूतन रूप ले सके। अस्तित्व का अर्थ है अपनी इच्छानुसार निरंतर ऊपर उठते रहना। अतएव यह उस दृष्टिकोण से एकदम भिन्न है जिसके अनुसार भाग्यवादी मान लेता है कि जो नसीब में होगा वही होगा या तुलसी दास की तरह 'सोइ होय जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावै साखा'- से संपूर्ण भिन्न है।

अस्तित्ववादी अपने विवेक, अपनी निर्णय-शक्ति और सुअवसर के बलपर समान परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न व्यक्ति अलग-अलग रास्ते चुनते हैं। अस्तित्ववाद इसी चुनाव (choice) को उसका सारतत्व (essence) कहता है। सच में व्यक्ति का वातावरण या परिस्थितियों पर नियंत्रण नहीं होता, इसीलिए अस्तित्ववादी उसे नगण्य समझता है। अपने चुनाव को मुख्य मानता है। उदाहरणार्थ- किसीका सुंदर या कुरूप होना, गरीब या संपन्न होना, उसके वश की बात नहीं है, उसको वह बदल भी नहीं सकता, लेकिन उसके प्रति उसका नजरिया अपना होता है, स्वतंत्र होता है। ताश के पत्ते क्या मिलेंगे उस पर खिलाड़ी का वश नहीं चलता, पर उसे कुशलता से खेलकर वह दाँव जीत सकता है। वह नियति की कठपुतली नहीं, पुरुषार्थी होता है।

अतएव चुनाव (choice) ही अस्तित्व का निर्माण करता है। वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कोई स्वभाव से आलसी निकम्मा, या दरिद्र अपने कर्म द्वारा अपने को कर्मठ और संपूर्ण बना सकता है। वह भौतिक जगत् को बदल नहीं सकता, पर उसके प्रति दृष्टिकोण (attitude) बदल सकता है। हम अपने जीवन को कैसे जीते हैं, कैसे रहते हैं, वह अस्तित्व है, वह जीवन है। चुनाव में वह स्वतंत्र होता है। महाभारत में अर्जुन भीख माँगकर जीना चाहता है, लेकिन कृष्ण उसे लड़ने का चुनाव करने की प्रेरणा देते हैं। मरने से स्वर्ग मिलेगा, जीतोगे तो राज्य मिलेगा- इसलिए लड़ो।

अर्जुन लड़ाई का चुनाव करता है। कर्ण लड़ाई का चुनाव करता है, मित्रता को निभाने के लिए। इसीलिए दोनों पुरुषार्थी हैं, वीर हैं। यहाँ पूर्व-निर्धारित आदर्श हैं, 'स्वधर्म' है, परंतु उसका निर्वाह व्यक्ति अपने ढंग से कर रहा है। एक अत्याचारी के खिलाफ लड़कर 'स्वधर्म' का पालन कर रहा है तो दूसरा दोस्ती के बहाने। इसीलिए अस्तित्ववाद की यह मान्यता सही है कि मानव जीवन को किसी एक पद्धति या व्यवस्था में नहीं बाँधा जा सकता। उसका अस्तित्व तो उसकी स्वतंत्रता में निहित है The essence of human being is in suspense in to his liberty.

सार्त्र तो यहाँ तक कहता है कि व्यक्ति की जाति, वेतन, कार्य का स्वरूप उसके विचार-भाव भी उसके निर्माण के हेतु होते हैं, तथापि चुनाव के लिए गुंजाइश होती है। एक सर्वहारा पर उसके वर्ग का काफी प्रभाव रहता है, फिर भी वह सहिष्णु होगा या विद्रोही, यह उसके निर्णय पर निर्भर, जो उसके भविष्य का निर्माण करता है। सार्त्र ने चुनाव और स्वतंत्रता को भी विशेष अर्थ दिया है। चुनाव का अर्थ जीना है, प्रत्येक कर्म के अनिवार्य परिणाम का उत्तरदायित्व स्वीकारता है। इसीलिए स्पष्ट ही वह ईश्वर, समाज, आदर्श आदिम के प्रति जिम्मेवारी नहीं स्वीकारता। क्योंकि सार्त्र के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपना सत्य, नैतिकता, आदर्श चुनने की स्वतंत्रता है। स्पष्ट है कि सार्त्र की यह मान्यता व्यक्ति को उच्छृंखल, गैर जिम्मेवार कर सकती है। इसीलिए इसे विनाशवाद (Nihilism) कहा गया है।

आश्चर्य है कि यहाँ अस्तित्ववाद मूलतः सकारात्मक था, पर नकारात्मकता की ओर बढ़ता चलता है।

यहाँ सार्त्र की कई मान्यताओं पर विचार कर लेना प्रासंगिक होगा। सार्त्र ईश्वर को नहीं मानता। वह न ही सूक्ष्म आत्मा को स्वीकार करता है। वह चेतना को मानता है। इसी चेतना का ऊर्ध्व-संचरण संभव है। मनुष्य परमात्मा भी बन सकता है। पर वह उस स्थिति तक नहीं पहुँचता, क्योंकि वह तो जिंदगी में मारा मारा फिरता है, उसकी स्वतंत्रता व्यर्थ है। मानव दुर्बल, असहाय और नियति के क्रूर खेल का शिकार है। फिर भी उसकी चेतना उसे अन्य पदार्थों से भिन्न कर देती है। विश्व के निर्माण के पीछे न कोई कारण है, न उद्देश्य। इसको बताने की आवश्यकता भी नहीं थी।

सार्त्र के विचार से निरुद्देश्यता ही सार्थकता है। सार्त्र मानता है कि समाज में व्यवस्था कभी स्थापित नहीं हो सकती, क्योंकि व्यक्ति की स्वतंत्रता सर्वोपरि है। वह सामाजिक संगठन को आत्मविवेक का शत्रु मानता है। सार्त्र मृत्यु को दुर्घटना मानता है। अतः वह बिल्कुल बेमानी है। वह तो जीवन को संदेह और कुतूहल की वस्तु बना देता है। वह सारी संभावनाओं और योजनाओं को अंत कर देती है। फिर भी मृत्यु समय विनाश नहीं हो सकती, क्योंकि मरने के बाद भी मनुष्य अपने पीछे कुछ मूल्य और सूत्र छोड़ जाता है। सार्त्र भौतिक सुख, वैयक्तिकता और वर्तमान का महत्व स्वीकार करता है।

पश्चिम का अस्तित्ववाद जगत् को सबके लिए एक-सा नहीं मानता। व्यक्ति, जाति, समय आदि के साथ जगत् बदलता है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह जगत् उसकी रुचि और उद्देश्य आदि के कारण भिन्न-भिन्न होता है। व्यक्ति के लिए उसी जगत् का अस्तित्व होता है जो उसकी चेतना (consciousness) का परिणाम है।

अस्तित्ववादी के लिए यह जगत् संघर्षमय है। क्योंकि व्यक्ति और समाज का संपर्क पेचीदा है। समाज सहयोग पर चल सकता है, या प्रतिद्वंद्विता पर। एक व्यक्ति के लिए दूसरे का महत्व तब तक है, जब तक वह उपयोगी है। लेकिन व्यक्ति व्यक्ति से टकराता रहता है, अपने स्वतंत्र दृष्टिकोण के कारण ही। वह दूसरे का साधन बनाना चाहता है, उस पर शासन करना चाहता है। परिणाम प्रतिद्वंद्विता ही होती है। अतः संघर्ष चलता रहता है।

अस्तित्ववाद मानव शरीर को अस्तित्व का स्थायी तथा अनिवार्य हेतु मानता है। उसे महत्व देता है। क्योंकि चेतना के लिए शरीर आवश्यक है।

कर्म के संबंध में अस्तित्ववाद की दृष्टि विशेष महत्व रखती है। कर्म तो करना पड़ता है। व्यावहारिक जीवन कठिन है। लेकिन वह कर्म किसी उद्देश्य के लिए नहीं करना चाहता। 'गीता' में भी कर्मयोग में कर्म को अहंकारहीन और फलाशावर्जित माना गया है। लेकिन वहाँ स्वार्थ के लिए कर्म को पाप और परार्थ के लिए किया गया पुण्य है। अस्तित्ववादी कर्म द्वारा अपना अस्तित्व सिद्ध करता है। इसलिए कर्तव्य-कर्म उसके लिए बोझ भी बन जाता है। वह रिक्तता का अनुभव

करके पलायन भी करता है। पुराने मूल्यों को नकार कर जब नया नहीं बना पाता तब निराश होता है। भारतीय अस्तित्ववादी चिंतन सामान्य व्यक्ति को ब्राह्मी-स्थिति तक पहुँचाता है तो पाश्चात्य अस्तित्ववाद उसे निराशा के कोहरे में डाल देता है। आश्चर्य है कि सकारात्मक दृष्टि लेकर जो अस्तित्ववाद चला था वह नकारात्मक हो जाता है।

संदर्भ सूची

1. प्रभा खेतान, सार्त्र का अस्तित्ववाद, दिल्ली, सरस्वती विहार, 1984.
2. लालचंद गुप्त, अस्तित्ववाद- दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका, पटियाला (पंजाब), अनुपम प्रकाशन मंदिर, 1977.
3. श्याम सुंदर मिश्र, अस्तित्ववाद और साहित्य, जयपुर, पंचशील प्रकाशन, 1984.